

आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित श्रावकाचार का स्वरूप

बेबी कुमारी*

डॉ सी०डी० राय*

जैनधर्म में श्रावक और श्रमण दोनों की साधना का विस्तार से निरूपण है। श्रावकधर्म को संयतासंयत, देवविरति और देशचारित्र कहा है। वह गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थ के कर्तव्यों का पालन करता हुआ अणुव्रतरूप एकदेशीय ब्रतों का पालन करता है।

जैन साहित्य में श्रावक शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं। प्रथम 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है— सुनना। जो श्रमणों से श्रद्धापूर्वक निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रमण करता है, तदनुसार यथाशक्ति उस पर आचरण कराने का प्रयास करता है, वह श्रावक है।¹ श्रावक शब्द से प्रायः यही अर्थ ग्रहण किया जाता है।

श्रावक शब्द का दूसरा अर्थ "श्रा—पाके" धातु के आधार से किया जाता है। प्रस्तुत धातु से संस्कृत रूप श्रावक बनता है। पर श्रावक शब्द की अर्थसंगति श्रावक शब्द के साथ नहीं बैठती है। संभव है, श्रावक से यह तात्पर्य रहा हो— जो भोजन पकाता है। भ्रमण शिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, किन्तु श्रावक गृहस्थाश्रमी होने से भोजन आदि पकाता है।

अक्षरों के आलोक में एक आचार्य न श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों पर गहराई से चिन्तन करते हुए लिखा है कि ये तीनों अक्षर श्रावक के पृथक्—पृथक् कर्तव्य का बोध करते हैं।²

प्रथम "श्रा" अक्षर से यह अर्थ घोषित है— जो जिन प्रवचन पर दृढ़ श्रद्धा रखता है और "श्रा" का दूसरा अर्थ यह भी है कि जो श्रद्धापूर्वक जिनवाणी का श्रवण करता है। श्रावक मनोरंजन की दृष्टि से या दोषदृष्टि से उत्प्रेरित होकर शास्त्र श्रवण नहीं करता, अपितु श्रद्धा से करता है। विवेकपूर्वक जिज्ञासा बुद्धि से तर्क भी करता है। उन सभी के पीछे श्रद्धा प्रमुख रूप से रही हुई है।

*शोधार्थी प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

*शोध निर्देशक एवं पूर्व अध्यक्ष प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

श्रावक शब्द में दूसरा अक्षर 'व' है। 'व' से यह अर्थ ध्वनित होता है कि श्रावक सुपात्र, अनुकम्पापात्र, मध्यमपात्र सभी को बिना बिलम्ब किये दान देता है। किसी भी पुण्यकार्य या धर्मकार्य का पावन—प्रसंग उपस्थित होने पर वह इधर—उधर बगलें नहीं झांकता। वह स्वयं कष्ट सहन करके भी दूसरों को दान देने में संकोच नहीं करता। इस तरह 'व' अक्षर से सत्कार्य का वचन यह अर्थ को प्रगट होता है। 'व' अक्षर से दूसरा अर्थ वरण भी है। श्रावक हठाग्रही नहीं होता, जो बात धर्म, समाज व आत्मा के हित के लिए है, उसे वह वरण करता है। 'व' का तीसरा अर्थ विवेक भी है। श्रावक की सभी क्रियाएँ, चाहे वे लौकिक हों या धार्मिक, विवेकपूर्वक होती है। वह विवेक की तुला पर तौलकर ही कोई आचरण करता है, उसका कोई भी कार्य अविवेकपूर्ण नहीं होता। श्रावक शब्द में तीसरा अक्षर 'क' है। उसके भी दो अर्थ होते हैं— प्रथम अर्थ है जो पाप को काटता है। श्रावक किसी भी पाप कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। परिस्थिति—विशेष के कारण कदाचित् फंस जाता है तो अपनी विवेक—बुद्धि से अपने आप को पाप—कार्य से बचा लेता है। यह पूर्वकृत पाप कृत्यों को काटने के लिए दान, शील, तप और भाव की आराधना करता है। 'क' कार दूसरा अर्थ है— अपनी आवश्यकताओं का कम करना। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम और संवर रहा हुआ होता है।

श्रावक (ब्रती) :—डाक्टर के घर में जन्म लेने से कोई डाक्टर नहीं बनता। उसके लिए डाक्टरी की परीक्षा समुत्तीर्ण करनी होती है। वैसे ही श्रावक के घर में जन्म लेने मात्र से ही श्रावक नहीं बनता; किन्तु उसका मन सांसारिक भौतिक पदार्थों में लुब्ध नहीं होता। उसकी आनतरिक अभिलाषा यही होती है कि—

- (1) वह दिन धन्य होगा, जब मैं गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमण धर्म धारण करूंगा।
- (2) कब वह सुदिन होगा जब मैं बाह्य और आम्यन्तर परिग्रह से मुक्त होऊंगा।
- (3) कब वह सुदिन होगा जिस दिन मैं आरम्भ से सर्वथा मुक्त होकर अन्त समय में संलेखना स्वीकार कर आहार आदि का त्याग कर, जीवन—मरण की इच्छा न करता हुआ संथारा ग्रहण करूंगा।

सच्चे श्रमणोपासक की भावना धन, सन्तान और सांसारिक सुख आदि की प्राप्ति ही नहीं होती। वे वस्तुएं पुण्य की प्रबलता से उसे सहज ही मिल जाती है। वह तो श्रमणत्व का उपासक होता है।

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि श्रमणत्व की पहचान कैसे की जाये,

क्योंकि श्रमणत्व एक प्रकार का अन्तर्भाव है? समाधानप है— श्रमणत्व के मनोभाव को हर व्यक्ति समझ नहीं सकता, किन्तु श्रमण पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि की जो वह आराधना करता है उसके आदर्श व्यवहार को देखकर हर कोई व्यक्ति यह समझ जाता है कि यह श्रमण है।

अरिहन्तोपासक क्यों नहीं? — दूसरी जिज्ञासा यह हो सकती है श्रावक को श्रमणोपासक क्यों कहा? उसे अरिहन्तोपासक कहना चाहिए। श्रमण में सम्भवतया कुछ दोष भी हो सकते हैं पर अरिहन्त सर्वथा निर्दोष होते हैं। उनकी सहज पहचान भी हो सकती है। समाधान है— उपासना तभी पूर्ण होती है जब उपास्य सामने हो। यदि उपास्य सामने विद्यमान नहीं हैं तो उपासक उपासना किस तरह कर सकेगा? अरिहन्त काल-चक्र में स्वल्प होते हैं। वे किसी विशिष्ट काल में ही विद्यमान होते हैं, पर श्रमण हर समय विद्यमान रहते हैं। जिस समय श्रमणोपासक होता है, उस समय श्रमण होता ही है। बिना श्रमणोपासक के श्रमण नहीं रह सकता। यों एक दृष्टि से देखा जाये तो अरिहन्त भी श्रमण ही है। हाँ, यह सत्य है कि वीतराग श्रमण है तो सामान्य श्रमण छद्मस्थ है। किन्तु सामान्य छद्मस्थ श्रमण की साधना भी श्रमणोपासक की साधना से कई गुणी उच्चकोटि की है। श्रमण का साक्षात् उपासक होने से वह श्रमणोपासक कहलाता है। सम्यक्त्व स्वीकार करते समय व्यवहार की दृष्टि से श्रमण ही उसका गुरु है। अरिहन्त तो देव हैं। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में श्रमण के संबंध में तुम क्या पूछ रहे हो? उसके तप को, नियम को और ब्रह्मचर्य को देखो। केवल वेश और क्रियाकाण्ड को मत देखो।³ राजस्थानी में भी एक सन्त कवि ने कहा है—

‘भेख देख भूली मती, ओलखजो आचार।’

अम्मापितृ समाणा —यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि श्रमणोपासक श्रमण की किस प्रकार उपासना करें? समाधान है— श्रावक मन-वचन-तन आदि अनेक साधनों से साधु-मर्यादा के अनुसार श्रमण की सेवा कर सकता है।

उदाहरण के रूप में श्रावक-श्रमणियों को निर्दोष आहारपानी प्रदान करता है। यह इस प्रकार का विवेक रखता है, जिससे स्वयं भी उचित आदि पदार्थों का उपयोग करता है। यों तो उसके लिए गुठली सहित आम आदि का उपयोग करने का निषेध नहीं है, पर बीज आदि से रहित उपयोग करने पर अचित फल आदि को बहाने का लाभ भी प्राप्त हो सकता है। सहज रूप में अतिथि-संविभागव्रत की आराधना भी हो सकती है।

जहाँ पर जैन समाज के घर न हों, और वहाँ पर यदि श्रमण-श्रमणिया विचरण कर रहे हों, तो वह श्रावक इनको निर्देश आहार-पानी दिलाकर, श्रमण-जीव की कठोर चर्या बताकर धर्म-दलाली कर सकता है। जैसे श्रमण श्रमणोपासक की आचार विशुद्धि का ध्यान रखता है, वैसे ही श्रमणोपासक भी श्रमणों का आचार-विशुद्ध बना रह, उनका तपसंयम अत्युज्जवल बना रहे। इसलिये वह उनकी महती सेवा करता है। ऐसा श्रावक ‘आम्मापितृ समाणा’ का विरु निभाता है।

अणुव्रती आदि अन्य नाम-श्रावक के लिए अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। इसलिए वह अणुव्रती भी कहलाता है। किन्तु पूर्णरूप से व्रतों का पालन न करने से वह व्रताव्रती, विरतविरति, देशविरति, देशसंयति और संयमासंयमी भी कहलाता है। आगार यानी घर में रहने के कारण वह सागरी भी कहलाती है और गृहस्थधर्म का पालन करने से वह गृहस्थधर्म के नाम से भी विश्रुत है। उपासना करने के कारण वह उपासक भी कहलाता है। उसमें श्रद्धा की प्रमुखता होती है इसलिए वह श्राद्ध भी कहलाता है।

रत्न-पिटारा—कितने ही चिन्तकों की यह भ्रान्त धारण है कि श्रावक पूर्ण रूप से अणुव्रती, असंयमी अविरे हैं। वह जहर से भरे हुए प्याले के सदृश है। उस श्रावक की सेवा करना, उसे दान देना और उसके प्रति दया करना, अब्रत का पोषण करना है उन चिन्तकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम-साहित्य में कहीं भी यह बात नहीं कहीं गई है श्रावक के जो पर्यायवाची नाम आये हैं, वे सभी इस बात के ज्वलन्त प्रतीक हैं कि वह सर्वथा अविरति और असंयमी न किन्तु व्रताव्रती और संयमासंयमी है। यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा के समर्थ आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक को रत्न करण्डक अर्थात् रत्नों का पिटारा कहा है। सूत्रकृतांग में स्पष्ट उल्लेख है कि जिन्होंने हिंसा और अहिंसा आदि के बन्ध न कुछ अंशों में नष्ट कर दिये हैं और हिंसा आदि बन्धनों को पूर्णतया नष्ट करने की जिनकी निर्मल भावना है, और जो क्रमशः नष्ट करने का प्रयास करते हैं, वे गृहस्थम श्रावक भी आर्य हैं। उनका मार्ग भी मोक्ष मार्ग है। श्रमण के समान श्रावक भी आर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्मी हैं, हिंसा आदि में जो रत हैं, वे अनार्य हैं।⁴

उपरोक्त पंक्तियों में श्रावक की जो विशिष्ट भूमिका है, उसके पर्यायवाची शब्दों के पीछे जो रहा हुआ रहस्य है, उसे हमने स्पष्ट किया है। एक श्रावक की भूमिका कितनी महान् है, यह भी इससे स्पष्ट है।

मूल आधार

एक भव्य भवन, जो अनन्त आकाश को छू रहा है, जिस पर चमकते हुए स्वर्ण कलश जन-जन के मन को आकर्षित कर रहे हैं, दर्शक के मन को मुग्ध कर

रहे हैं और वह उसकी प्रशंसा करते हुए अघाते नहीं हैं, कितनी सुन्दर चमक—दमक है भव्य भवन की; पर उन्हें पता नहीं कि इस भवन का मूल आधार सुदृढ़ नींव की ईट से भवन का निर्माण नहीं होता। वे तो पुनः लौटकर निर्माता की जीवन—लीला को ही समाप्त कर देती है।

मानवता की नींव

आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन—प्रसाद का निर्माण भी मानवता की गहरी नींव पर ही हो सकता है। आज मनुष्य के मन में मानवता नहीं है। उनके मन में पशुवृत्ति पनप रही है, कभी वे अपने भाई को निहार कर कुत्ते की तरह भौंकता हैं तो कभी बिल्ली की तरह घुर्ते हैं, कभी लोमड़ी की तरह काली करतूत का परिचय देते हैं तो कभी भेड़िये की तरह अपनी दुष्ट प्रकृति का प्रभाव दिखाते हैं। ऐसा पशुवृत्ति वाला मनुष्य इन्सानी—चोले में क्या नहीं करता, वह स्वयं अबाद रहकर दूसरों की बर्बादी के सपने संजोता रहता है। हर किसी के पथ पर क्रोध और अहंकार के कांटे बिछाता रहता है। इसका मूल कारण है मानवता का अभाव। बिना मानवता के नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक जीवन—निर्माण नहीं हो सकता। जन—जीवन में जो विसंगतियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, उनका मूल कारण मानवता का अभाव ही है। जब तक इस कारण को नष्ट नहीं किया जाये, तब तक साधना में प्राणों का संचार नहीं हो सकता।

मार्गानुसारी के दिव्य गुण

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषी आचार्यों ने श्रावकधर्म और श्रमणधर्म ग्रहण करने के पूर्व मानवता के दिव्य गुणों को भी धारण करना आवश्यक माना। सामान्य मान से विशिष्ट मानव बनने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम मार्गानुसारी के दिव्य गुणों को अपनाय।

आगम एवं आगमेतर साहित्य का गम्भीर अध्ययन कर सर्वप्रथम 'धर्मबिन्दु प्रकरण' ग्रन्थ में मार्गानुसारी के पैतीस बोल पर आचार्य हरिभद्र ने चिन्तन प्रकट किया। उसके पश्चात् अनेक आचार्यों ने अपनी कमनीय कल्पना से उन गुणों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र ग्रन्थ में उन गुणों पर अत्यन्त गहराई से भाष्य प्रस्तुत किया। ये पैतीस गुण जीवन के लिए इतने अधिक उपयोगी हैं कि मानव के जीवन में सद्गुणों का सरसब्ज बाग लहलहाने लगता है। ये गुण मनुष्य को तन से ही नहीं मन से भी मानव बनाने में पूर्ण समक्ष हैं।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. समणसुत्तं — गाथा 301
2. श्रावक स्वरूप — समन्तभद्र, पृष्ठ 33
3. स्थानांगसूत्र — 3 / 31
4. सूत्रकृतांग सूत्र — 2 / 101
5. धर्मबिन्दु प्रकरण— 1

